AMOGHVARTA

ISSN : 2583-3189

एकात्म मानववाद : एक अनुशीलन

ORIGINAL ARTICLE

Author
प्रियदर्शी सौरभ
सहायक प्राध्यापक, दर्शन विभाग
जगदम कॉलेज,
(जयप्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा की एक अंगीभूत ईकाई)
छपरा, बिहार, भारत

शोध सार

भारतीय चिन्तन परम्परा में पंडित दीनदयाल उपाध्याय का अतुल्नीय योगदान है। एकात्मक मानववाद के दर्शन ने भारतीय जनमानस को गहरे रूप में प्रभावित किया। एकात्म मानववाद का दार्शनिक दृष्टिकोण मनुष्य को एक व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के बीच सौहार्दपूर्ण संबंध की स्थापना के लिए प्रोत्साहित करता है। दीनदयाल जी का एकात्म मानववाद का दर्शन मन, शरीर और आत्मा के एकीकरण पर आधारित है। समाज को एकता के सूत्र में बांध कर रखने के लिए मन, शरीर और आत्मा का उचित समन्वय अनिवार्य है। उनका दर्शन व्यक्ति और समाज के सामंजस्य के लिए लौकिक और आध्यात्मिक दुनिया के एकीकरण का समर्थन करता है। व्यक्ति व समाज का आत्म–साक्षात्कार ही एकात्म मानव का परिचय है। व्यक्ति व समाज की एकात्मकता के चार सूत्रों–शिक्षा, कर्म, योगक्षेप व यज्ञ के अनुसंधानीय समीकरणों से धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष की संसिद्धि होती है।

मुख्य शब्द

एकात्म, चित्त, व्यक्तिवाद, राष्ट्रवाद.

पाश्चात्य राजनैतिक चिन्तन ने मानव को सेक्यूलरवाद, व्यक्तिवाद (पूंजीवाद) समाजवाद एवं साम्यवाद की विचारधाराएं दी थी। स्वतन्त्र भारत का नेतृत्व भी इन्हीं वादों में भारत का भविष्य खोज रहा था। दीनदयाल जी ने इस खोज में हस्तक्षेप करते हुए यह प्रश्न खड़ा किया कि जब हमने पाश्चात्य साम्राज्यवाद को नकार दिया, तब हमारी क्या मजबूरी है, कि हम पाश्चात्य वादों का अनुगमन करें। पंडित दीनदयाल उपाध्याय ने अपने सुदीर्घ चिन्तन, अध्ययन एवं मनन के बाद सन् 1964–65 में एकात्म मानववाद की विचारधारा का प्रणयन किया।

दीनदयाल जी मानते हैं कि मानव की तरफ देखने की पाश्चात्य दृष्टि खंडित है। उनका व्यक्तिवाद, समाजवाद का दुश्मन है, तथा समाजवाद, व्यक्तिवाद का शत्रु है। वे प्रकृति पर मानव की विजय चाहते हैं। सेक्युलरवाद को अपना कर उन्होंने अपने सार्वजनिक जीवन को अध्यात्म से काट लिया। अतः भौतिकवाद बनाम अध्यात्म, स्टेट बनाम चर्च तथा रिलिजन बनाम साइंस के द्वंद्वमूलक समीकरण यहाँ उत्पन्न हुए।

एकात्म मानववाद का दर्शन व्यक्ति बनाम समाज नहीं, बल्कि व्यक्ति और समाज की एकात्मकता का विचार है। यह मानव बनाम प्रकृति नहीं बल्कि मानव के साथ प्रकृति की एकात्मकता का विचार है। भौतिक और अध्यात्मिक का द्वंद्व नहीं बल्कि इनकी एकात्मकता का विचार है। भारत में इसे धर्म कहा गया है 'यतो अभ्युदय तिःश्रेयस संसिद्धि स धर्म।' अर्थात् यह व्यक्ति, समष्टि, सृष्टि व परमेस्टी की एकात्मकता का विचार है। एकात्म मानववाद का विचार

दृश्यमान पृथकताओं में एकात्मकता के सूत्र की तलाश है। संसार में पृथकता नहीं, विविधता है। जो 'पिंड' में है वही 'ब्रह्माण्ड' में है। एकात्मकता समग्रता में बिहित है। समग्रता के अभाव में खंडित दृष्टि से मानव आक्रांत होता है। जैसे ब्रह्माण्ड की समग्रता है, वैसे ही व्यक्ति की भी समग्रता है। व्यक्ति केवल शरीर नहीं, उसके पास मन, बुद्धि और आत्मा भी है। इन चारों से पृथक–पृथक सुख से व्यक्ति सुखी नहीं होता, उसे तो एकात्म एवं घनीभूत सुख की तलाश करनी है। इसी तरह से समाज केवल सरकार नहीं है, उसकी अपनी संस्कृति है, जन एवं देश है। इन चारों के सम्यक संचालन के बिना समष्टि के सुख का संधान नहीं होता।[1]

व्यष्टि, समष्टि, सृष्टि तथा परमेष्टी से एकात्म हुआ मानव ही विराट पुरुष है। इसके पुरूषार्थ–धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष–मानव की परिस्थिति निरपेक्ष आवश्यकताएं हैं तथा इनकी सम्पूर्ति करना समाज व्यवस्था का काम है। धर्म–शिक्षा–संस्कार एवं विधि व्यवस्था। अर्थ–यह साधन पुरुषार्थ है। धर्मसंगत माध्यम से रोजगार, उत्पादन एवं वितरण के द्वारा उपयोग करना है।

कामः 'धर्माविरूद्धों कामोऽहम्' (जो धर्म के अविरूद्ध है, मैं वह काम हूँ–गीता) समस्त एषणायें इसके अन्तर्गत आती है, उनको सांस्कृतिक उपागम प्रदान करना, संगीत एवं विविध कलाओं के माध्यम से एषणाओं को सकारात्मक बनाना इसका उद्देश्य है। धर्म विरूद्ध काम पुरुषार्थ नहीं, बल्कि विकार है।

मोक्षः यह परम पुरुषार्थ है। जब व्यक्ति अभाव व प्रभाव की कुण्ठाओं से युक्त हो जाता है, तब वह मोक्ष की स्थिति को प्राप्त करता है।

भारतीय परम्परा मानव को व्यक्ति व समाज में बाँटती नहीं है तथा न ही मानव को केवल भौतिक इकाई मानती है। भारतीय परम्परा मानव को एकात्म मानती है। न बाँटी जा सकने वाली इकाई को एकात्म कहते हैं। समाज और व्यक्ति इस प्रकार जुड़े हुए हैं कि उन्हें अलग–अलग नहीं किया जा सकता। व्यक्ति का अस्तित्व परिवार के बिना नहीं है। परिवार अपने ग्राम, शहर या मोहल्ले के बिना नहीं रह सकता। शहर से आगे देश व दुनिया की इकाइयाँ हैं। एकात्म मानव का सुख व्यक्ति व समाज में बँटा हुआ नहीं, बल्कि एकात्म होता है। दीनदयाल जी की मान्यता है कि संसार में समर्थ के साथ–साथ कमजोर भी जिंदा रहता है। सभ्यता का अर्थ ही यही है कि कमजोर की भी रक्षा हो सके। आयुर्वेद तथा चिकित्सा शास्त्र की आवश्यकता दुर्बल को जीवित रखने के लिए है।

दीनदयाल जी मानते हैं कि शरीर, मन, बुद्धि एवं आत्मा का समुच्चय ही व्यक्ति है तो यह सुख शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा का सुख है और इन चारों का सुख मनुष्य का सुख है। जिस प्रकार व्यक्ति का विचार करते समय इन चारों पर विचार किया जाता है, उसी प्रकार समष्टि या समूह का विचार करते समय भी इन चारों का विचार करना चाहिए। जिस प्रकार एक व्यक्ति में शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा रहती है, उसी प्रकार समष्टि में भी चाहे कितने ही व्यक्ति हों, एक शरीर, एक साथ रहने की इच्छा, अर्थात् एक आत्मा रहती है।[2]

विश्व में आज समष्टि की सबसे बड़ी इकाई राष्ट्र है और राष्ट्र के लिए चार तत्वों की आवश्यकता रहती है। प्रथम आवश्यकता देश है। देश भूमि और जन दोनों को मिलकार बनता है। मात्र भूमि ही देश नहीं है। किसी भूमि पर एक जन (समाज) रहता हो और वह उस भूमि को माँ के रूप में पूज्य समझे, तभी वह देश कहलाता है। दूसरी आवश्यकता सबकी इच्छा शक्ति अर्थात् सामूहिक जीवन का संकल्प है। तीसरी, एक व्यवस्था जिसे नियम या संविधान कहा जा सकता है और इसके लिए हमारे यहाँ 'धर्म' शब्द प्रयुक्त हुआ है। चौथी आवश्यकता जीवन–आदर्श अर्थात् संस्कृति है और तदनुसार इन चारों तत्वों का समुच्चय राष्ट्र है। जिस प्रकार शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा के समुच्चय से व्यक्ति बनता है, उसी प्रकार देश, संकल्प, धर्म और आदर्श के समुच्चय से राष्ट्र बनता है।

प्रत्येक स्वतन्त्र राष्ट्र का यह प्राथमिक कर्तव्य है कि वह अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करे। इसके साथ ही वे अपने जीवन की आवश्यकताओं को पूर्ण करते हुए समृद्ध, सोद्देश्य एवं सुखी समाज के संगठन में सचेष्ठ रह सकें। भारत का सांस्कृतिक चिन्तन वह तात्विक अधिष्ठान प्रस्तुत करता है जिससे उपर्युक्त भावनाएँ समन्वित हो वांछनीय लक्ष्यों की सिद्धि कर सकें। भारतीय तात्विक सत्यों का ज्ञान देश और काल से स्वतन्त्र है। यह दृष्टि सृष्टि की विभिन्न सत्ताओं तथा जीवन के विभिन्न अंगों के दृश्य–भेद स्वीकार करते हुए उनके अन्तर में एकता की खोज कर उनमें समन्वय की स्थापना करती है। परस्पर–विरोध और संघर्ष के स्थान पर वह पस्परावलंबन, पूरकता, अनुकूलता

और सहयोग के आधार पर सृष्टि की क्रियाओं का विचार करती है। इसका दृष्टिकोण सांप्रदायिक अथवा वर्गवादी न होकर सर्वात्मक एवं सर्वोत्कर्षवादी है।

दीनदयाल जी मानते हैं कि समाज केवल व्यक्तियों का समूह अथवा समुच्चय नहीं, बल्कि एक जीवंत सावयव सत्ता है। भूमि विशेष के प्रति मातृभाव रखकर चलनेवाले समाज से राष्ट्र बनता है। प्रत्येक राष्ट्र की अपनी एक विशेष प्रकृति होती है, जो ऐतिहासिक अथक भौगोलिक कारणों का परिणाम नहीं, बल्कि जन्मजात है। इसे 'चिति' कहा जाता है। राष्ट्रों का उत्थान–पतन चिति के अनुकूल अथवा प्रतिकूल व्यवहार पर निर्भर करता है। विभिन्न विशष्टिताओं वाले राष्ट्र परस्पर पूरक होकर मानव एकता का निर्माण कर सकते हैं। राष्ट्रों का विनाश कर मानव एकता उसी प्रकार असंभव तथा अवांछनीय है, जिस प्रकार व्यक्तियों को नष्ट कर समष्टि का विकास।

भारतीय राज्य का आदर्श 'धर्मराज्य' रहा है तथा इसका चरित्र असांप्रदायिक राज्य का रहा है। सभी पंथों और उपासना पद्धतियों के प्रति सहिष्णुता एवं समादर का भाव भारतीय राज्य का आवश्यक गुण है। अपनी श्रद्धा और अंतःकरण की प्रवृत्ति के अनुसार प्रत्येक नागरिक का उपासना का अधिकार अक्षुण्ण है तथा राज्य के संचालन अथवा नीति–निर्देशन में किसी भी व्यक्ति के साथ मथ या संप्रदाय के आधार पर भेदीाव नहीं हो सकता। धर्मराज्य थियोक्रेसी अथवा मजहबी राज्य नहीं हो सकता है।[3]

दीनदयाल की राय में मानव केवल व्यक्ति व समाज के रूप में ही एकात्म नहीं है, वह इस विश्व या प्रकृति का भी अविभाज्य अंग है। अतः यदि मानव प्रकृति के साथ अनुचित व्यवहार करेगा तब दुःखी हो जाएगा। भारतीय परम्परा प्रकृति को माता का दर्जा देती है। प्रकृति के तत्वों को प्रदूषित करना पाप है। यह सृष्टि केवल व्यक्ति और समाज से नहीं बनती, बल्कि मानव को प्रकृति के साथ संतुलित व्यवहार करना सीखना चाहिए। भारतीय परम्परा के विपरीत यूरोपीय विचारधारा प्रकृति पर विजय की कामना करती है। इस मानव–केंद्रित विचारधारा ने प्रकृति का अनियंत्रित उपभोग करके मानवता के समक्ष भीषण संकट खड़ा कर दिया है।

दीनदयाल उपाध्याय मानते हैं कि भारत एक आध्यात्मिक तत्व को मानवता का अटूट हिस्सा मानता है। यह अनुभूति का विषय है। भारत उस परमात्मा के किसी एक रूप या पूजा–पद्धति का अनुयायी नहीं है, बल्कि आध्यात्मिक उत्कर्ष के विविध आयामों का यहाँ विकास हुआ है। इसी कारण सभी प्राणियों में एक ही आत्मा का निवास, जीव दया का भाव तथा अहिंसा आदि गुणों का यहाँ विकास हुआ। दीनदयाल आध्यात्मिकता को भी मानव की एकात्मकता का हिस्सा माने हैं तथा उसकी अनदेखी करने को खतरनाक मानते हैं।

भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशेषता यह है कि वह सम्पूर्ण जीवन तथा सृष्टि का संकलित विचार करती है। उसका दृष्टिकोण एकात्मवादी है। पश्चिम की समस्या का मुख्य कारण उसका जीवन के संबंध में खंडित रूप से विचार करना तथा फिर इन सबको पोटली बनाकर जोड़ने का प्रयत्न है। विविधता में एकता अथवा एकता का विविध रूपों में व्यक्तिकरण ही भारतीय संस्कृति का केंद्रस्थ विचार है। पश्चिम ने मात्स्यन्याय को ही जीवन का आधार माना है जबकि भारतीय चिंतन सम्पूर्ण जीवन और उसकी मूलभूत एकता का दर्शन उपस्थापित करती है। जो द्वैतवादी हैं, उन्होंने भी प्रकृति और पुरुष को एक–दूसरे का विरोधी अथवा परस्पर संघर्षशील न मानकर पूरक ही माना है। जीवन की विविधता अंतर्निहित एकता की खोज है और इसलिए उनमें परस्परानुकूलता तथा परस्पर पूरकता है। बीच की एकता ही पेड़ की जड़, तना, शाखा, पत्ते, फूल और फल की विविध रूपों में प्रकट होती है। इन सबके रंग, रूप तथा कुछ–न–कुछ मात्रा में गुण में भी अंतर होता है। इसके बावजूद उनके पास बीज के साथ के एकत्व के संबंध को सहज पहचाना जा सकता है।

मनुष्य के शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा की आवश्यकताओं की पूर्ति, उसकी कामनाओं, इच्छाओं तथा तृष्णाओं की संतुष्टि और उसके सर्वांगीण विकास की दृष्टि से व्यक्ति के समक्ष कर्तव्य रूप में पुरुषार्थ की कल्पना की गई है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चार पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ का आशय उन कामों से है, जिनमें पुरुषत्व सार्थक हो। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की कामना मनुष्य में स्वाभाविक होती है और उनके पालन से उसको आनंद प्राप्त होता है। यद्यपि मोक्ष परम पुरुषार्थ है, लेकिन अकेले उसके लिए प्रयत्न करने से मनुष्य का कल्याण नहीं हो सकता। वस्तुतः अन्य पुरुषार्थों की अवहेलना करने वाला कभी मोक्ष का अधिकार नहीं हो सकता। इसके विपरीत शेष पुरुषार्थों को

लोक–संग्रह के विचार से निस्काम भाव से करनेवाला व्यक्ति कर्म बंधन से मुक्त होकर मोक्ष का अधिकारी होता है। यह चार पुरुषार्थ सामाजिक, आर्थिक, भावनात्मक तथा अध्यात्मिक व्यक्तित्व का प्रतिनिधित्व करते हैं।

दीनदयाल जी देश की एकता और विकास के लिए आध्यात्मिकता के साथ–साथ भौतिकवाद के उपयोग का भी समर्थन करते हैं। उन्होंने भारतीय मूल्यों का सार खोए बिना आधुनिक तकनीक अपनाने की सलाह दी है। उन्होंने आर्थिक लाा के लिए आधुनिक तकनीकों और मशीनों के प्रयोगों का समर्थन किया है, किन्तु यह भी कहा है कि इनका उपयोग धर्म के सामंजस्य में किया जाना चाहिए। एकात्म मानववाद का दर्शन हमारे देश की अर्थव्यवस्था को आत्मनिर्भर बनाने में सहायक है। विकास केवल एक मनुष्य के सुख से संभव नहीं है, बल्कि प्रत्येक व्यक्ति, समाज, प्रकृति तथा परमात्मा का विकास में समायोजन करने से ही वैश्विक शांति का मार्ग संभव है।[4]

आर्थिक पहलू पर अपने चिंतन में दीनदयाल जी कहते हैं कि जीवन के विकास तथा राष्ट्र की धारणा एवं विकास के लिए जिन मौलिक साधनों की आवश्यकता होती है, उनका उत्पादन अर्थव्यवस्था का लक्ष्य होना चाहिए। पश्चिमी अर्थशास्त्र इच्छाओं की निरन्तर वृद्धि और उनकी आवश्यमाओं की निरन्तर पूर्ति ही अपना अभीष्ट समझा है। सामान्यतः पहले इच्छा होती है, किंतु अब बाजार के लिए माल पैदा करने के स्थान पर पैदा किए हुए माल के लिए बाजार ढूँढ़ना और न मिले तो नया बाजार पैदा करना आज की अर्थनीति का प्रमुख अंग बन गया है। प्रारम्भ में उत्पादन उपभोग का अनुसरण करता था, अब उपभोग उत्पादन का अनुचर है। दीनदयाल जी इस बात पर बल देते हैं कि उत्पादन का संबंध प्राकृतिक साधनों से है और संसाधन सीमित होने के कारण उनका विवेकसम्मत उपभोग जरूरी है।

निष्कर्ष

दीनदयाल जी के विचार में मानव केवल एक व्यक्ति मात्र नहीं है, बल्कि शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा का समुच्चय है। भारतीय चिंतन के विपरीत पश्चिम में व्यक्ति और समाज के संबंधों को लेकर सामाजिक समझौता सिद्धांत को माना जाता है अर्थात् समाज व्यक्तियों का ऐसा समूह है, जो व्यक्तियों ने स्वयं मिलकर बनाया है। दीनदयाल जी इस विचारधारा को स्वीकार नहीं करते हैं। उनके विचार में समाज स्वयंभू है। जिस प्रकार व्यक्ति जन्म लेता है, उसी प्रकार समाज भी पैदा होता है। वस्तुतः समाज एक ऐसी सत्ता है, जिसकी अपनी आत्मा है और अपना एक जीवन है, इसलिए यह भी उसी प्रकार से जीवमान सत्ता है, जैसे मनुष्य। समाज की भी व्यक्ति की तरह शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा होती है। व्यक्ति भी इस राष्ट्र को प्रकट करने का एक साधन है और इस तरह व्यक्ति अपने स्वयं के अतिरिक्त राष्ट्र का भी प्रतिनिधित्व करता है। अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए राष्ट्र जितनी संस्थाओं को जनम देता है, उनका उपकरण भी व्यक्ति ही है। राष्ट्र में मानव के रूप में जो व्यापक समष्टियाँ हैं, उनका भी प्रतिनिधित्व व्यक्ति ही करता है। प्रत्येक व्यकित का बहुमुखी व्यक्तिव है, परन्तु उनमें पारस्परिक खिंचाव नहीं, बल्कि एकात्मकता, समन्वय एवं सामंजस्य रहता है। इस सामंजस्य के नियमों का आकलन और उसकी व्यवस्था ही मानव के आदर्शों के बीच की विसंगति को दूर कर उसे सुख और शांति प्रदान कर उसका विकास कर सकती है।

सन्दर्भ सूची

1. उपाध्याय, दीनदयाल (2013) *सम्पूर्ण वांङ्मय (खंड–एक),* एकात्म मानवदर्शन अनुसंधान एवं विकास प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, पृ. 36।
2. अब्राह्म, जे. (2019) इन सर्च ऑफ धर्म : इंटीग्रल हुमनिज्म एंड दी पोलिटिकल इकॉनमी ऑफ हिन्दू नेशनलिज्म, *साउथ एशिया जर्नल,* इश्यु अप्रेल 2018, वाल्यूम क्रमांक 04, पृ. 112।
3. सक्सेना, एम. के. (2018) *एकात्म मानव–दर्शन : विविध आयाम,* अनामिका प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 210।
4. उपाध्याय, दीनदयाल (2022) एकात्म मानवबाद : सिद्धांत एवं विवेचन प्रभात प्रकाशन, दिल्ली : पृ. 71।

––==00==––